स्वामीकार्तिकेय इसी का अनुकरण करते हैं। साथ ही उनका यह भी कहना है कि कायोत्सर्ग में व्रती को चाहिए कि वह उस समय अपने स्वरूप का, जिन प्रतिबिम्ब का अथवा पमरेष्ठी के वाचक अक्षरों का अथवा कर्मों के विपाक का चिन्त्वन करता हुआ ध्यान करें।[1] अमितगतिश्रावकाचार के कर्ता के दृष्टि में सामायिक प्रतिमाधारी वह है जो रौद्र और आर्त्तध्यान से रहित है, सांसारिक दु:खों का त्याग करना चाहता है और समस्त कषाय रूप दोषों से मुक्त है तथा जो त्रिकाल सामायिक करता है।[2] वसुनन्दिश्रावकाचार में भी आता है कि जो शुद्ध होकर जिनमन्दिर में या अपने घर में जिनबिम्ब के सम्मुख या अन्य पवित्र स्थान में पूर्वदिशा या उत्तरदिशा की तरफ मुख करके प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओं में सामायिक करता है तथा जिनधर्म जिनबिम्ब जिनालय व परमेष्ठी की वन्दना करता है, वह सामायिक प्रतिमा का धारी है।[3] सागारधर्मामृतकार पण्डित आशाधर की दृष्टि में निरतिचार सम्यग्दर्शन व मूलगुण व उत्तरगुणों के समूह के अभ्यास से जिनकी बुद्धि निर्मल तथा ज्ञान विशुद्ध हो गया है और जो परिषद् और उपसर्ग में आने पर भी तीनों सन्ध्याओं में साम्यभाव धारण करता है, वही श्रावक सामायिक प्रतिमा का यथार्थ परिपालक है :-

सुदृङ्मूलोत्तरगुण ग्रामाभ्यासविशुद्धिः धीः।
भजस्तिसंध्यं कृच्छेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत्।।[4]

4. पौषध प्रतिमा

प्रत्येक मास या पक्ष में गृहस्थ कुछ दिन ऐसे रखता है, जिसमें वह सांसारिक

1. जो कुणादि काउस्सग्गं बारस आवत्त संजुदौ धीरो।
णमणदुगं पि कुणंतो चतुद्प्पमाणो पसण्णप्पा।।
चिंतंतो ससरूपं जिणबिंबं अह व अक्खरं परमं।
झायादि कम्मविवायं तस्स वयं होदि सामाइयं।।
कार्ति० 70-71
2. रौद्रार्थमुक्तो भवदुः खमोची, निरस्सतनिः शेषकषाय दोषः।
सामायिक यः कुरुते त्रिकालं सामायिकस्थः कथितः स तथ्यम्।।
अमित०श्राव०, 7/69
3. होऊण सुई चेइयगिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो।
अण्णत्थ सुइपए से पुव्वमुहो उत्तरमुहो व।।
जिणवयण-धम्म-चेइय-परमेट्ठि-जिणालयाण णिच्चंपि।
खं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु।।
वसु०श्राव०, 274-275
4. सागार०, 7/1

झंझटों से मुक्त हो आध्यात्मिकता की ओर ही लगा रहता है। वह अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व पूर्णिमा आदि पर्व दिनों में आहार, शरीर-संस्कार अब्रह्मचर्य एवं व्यापार आदि कृत्यों का त्याग कर देता है। उसके इस प्रकार के चतुर्विध त्याग रूप नियम के पूर्ण पालन से पौषधप्रतिभा पूर्ण होती है। उपासकदशांगटीका में कहा गया है कि पूर्वोक्त प्रतिमाओं के परिपालन के साथ जो अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों पर पूर्णरूप से पौषधव्रत की चार मास आराधना करता है, वह पौषधप्रतिमाधारी है।[1]

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में भी ऐसा ही आता है। यहाँ कहा गया है कि तीनों पूर्वोक्त प्रतिमाओं के पालन के साथ चतुर्दशी, अष्टमी, पूर्णिमा एवं अमावस्या के दिन जो परिपूर्ण पौषधव्रत का पालन करता है, किन्तु एकरात्रिक कायोत्सर्ग का सम्यक् परिपालन नहीं करता है, वह चौथी उपासकप्रतिमा है।[2] रत्नकरण्डकश्रावकाचार में प्रत्येक मास के चारों ही पर्व दिनों में अपनी शक्ति के अनुसार पौषध को नियमपूर्वक पालन करना पौषधप्रतिमा बतलायी गयी है।[3] स्वामीकार्तिकेय के अनुसार-सप्तमी और त्रयोदशी के दिन अपराह्न के समय जिन मन्दिरों में जाकर आवश्यक क्रिया क्रमशः करके चार प्रकार का आहार त्यागकर जो उपवास को ग्रहण करता है और घर के सब व्यापार कर्मों को छोड़कर धर्मध्यान पूर्वक रात बिताता है, वह पोषधप्रतिमा का पालक व्रती होता है।[4] आचार्य अमितगति श्रावक की चौथी प्रतिमा का उल्लेख करते हुए बतलाते हैं कि जो पुरुष इन्द्रिय सुखों की अभिलाषा को मन्द करके प्रत्येक मास के चारों ही पर्वों में अन्य सभी कार्य छोड़कर सदा उपवास करता है, वह शुद्ध बुद्धि से युक्त पोषधोपवास प्रतिमाधारी श्रावक है।[5]

1. पुव्वोदियपडिमजुओ पालइ जो पोसहं तु सम्पुण्णं।
अट्ठमिचउद्दसाइसु चउरो मासे चउत्थी सा।।
उपा०टीका, पृ० 75
2. से णं चउद्दसट्ठमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहोववासं सम्मं अणुपालिता भवइ। से णं एगराइयं काउस्सग्गपडिमं नो सम्मं अणुपालिता भवइ।। दशा०सू०, छठी दशा
3. पर्वदिनेषु चतुष्वपि मासे-मासे स्वशक्तिमनिह्न।
प्रोषध नियमविधायी प्रणधिपरः प्रोषधानशनः।। रत्न० 140
4. कार्ति० 72
5. मन्दीकृताक्षार्थसुखाभिलाषः करोति यः पर्वचतुष्टयेऽपि।
सदोपवासं परकर्म मुक्त्वा स प्रोषधी शुद्धधियामभीषः।।
अमित०श्राव०, 7/70

दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों के अनुसार पौषधव्रत में सोलह, बारह या आठ प्रहर तक उपवास करने का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। उस समय आचाम्ल, निर्विकृति आदि से भी पौषध की साधना की जा सकती है, उसमें कुछ शिथिलता भी आ सकती है, परन्तु प्रतिमा में किसी भी प्रकार की कोई शिथिलता नहीं होती, प्रतिमा निरतिचार होती है। पौषधोपवास के दिन गृहस्थ श्रमण के समान आरम्भ आदि का परित्याग कर धर्मध्यान करता है।

अतः कह सकते हैं कि श्रावक आध्यात्मिक साधना के मार्ग पर चढ़ते-चढ़ते प्रत्येक अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या व पूर्णमासी को उपवास करता है एवं सन्ध्या को पौषध ग्रहण करता है। उस समय वह सांसारिक झंझटों से विरत रह कर अपना समय शास्त्रस्वाध्याय एवं धर्मध्यान में व्यतीत करता है।

5. नियम प्रतिमा

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में प्रतिमाओं का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि प्रस्तुत प्रतिमा में श्रावक विविध नियमों को ग्रहण करता है। उनमें पाँच बातें प्रमुख हैं–1. स्नान नहीं करना, 2. क्षौर कर्म न करना, 3. पांव में जूता न पहनना, 4. धोती की एक लांग खुली रखना और 5. दिन में ब्रह्मचर्य पालन।[1]

उपासकदशांगसूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसी को कायोत्सर्ग प्रतिमा बतलाया है। आगे उन्होंने कहा है कि सम्यक्त्व, अणुव्रतों और गुणव्रतों का धारक अष्टमी और चतुर्दशी के दिन रात भर कायोत्सर्ग करते हैं, रात्रि भोजन का त्याग करते हैं, दिन में ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं तथा सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग करते हैं, इसी को कायोत्सर्ग प्रतिमा कहा जाता है। इस प्रतिमा का उत्कृष्ट समय पांच मास है।[2]

---

1. से णं असिणाणए, वियडभोई, मउलिकडे, दिया बंभयारी, रत्ति परिमाण कडे से णं एयारूवेण विहारेण विहरमाणे जइण्णेणं एगाहं व दुयाहं व तियाहं व जाव उक्कोसेण पंच मास विहरइ।
दशा०सू०, छट्ठी दशा
तथा मिलाइए, नि०प्र०, पृ० 276
2. असिणाण वियऽभोई मउलिकडो दिवसम्बभयारी य।
राइं परिमाणकडो पडिमावज्जेसु दियहेसु।
झायइ पडिमाए ठिओ तिलोचपुज्जे जिणे जियकसार।
नियदोसपच्चणीयं अण्णं वा पंच जा मासा।। उपा०टीका, 75

जबकि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस नियम प्रतिमा के स्थान पर 'सचित्त त्याग' की परिपूर्णता को महत्ता दी गई है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में आता है कि जो दयामूर्तिश्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर (कैर) कन्द, फूल और बीजों को नहीं खाता है, वह सचितवरित प्रतिमाधारी श्रावक है।

मूलफलशाकशाखाकरीकन्द प्रसून बीजानि।
नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः।।[1]

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि जो ज्ञानी पुरुष सचित्तपत्र, सचित्तफल, सचित्तछाल, सचित्तमूल, सचित्तकोंपल और सचित्तबीज को नहीं खाता है, वह सचित्तविरत प्रतिमाधारी श्रावक है।[2] आचार्य अमितगति के अनुसार–जिन वचनों का वेत्ता, दयालुचित्त पुरुष जो किसी भी सचित्त वस्तु को नहीं खाता है, वह अनन्य साधारण धर्म का पोषक तथा कषायों का विमोचक सचित्तत्याग प्रतिमाधारी है।[3] आचार्य वसुनन्दि अपनी रचना में लिखते हैं कि जहाँ पर हरित त्वक्, पत्र, प्रवाल, कंद, फल, बीज और अप्रासुक जल त्याग किया जाता है, वहाँ सचित्त विनिवृत्ति वाली पाँचवीं सचित्तत्याग प्रतिमा होती है–

जं वज्जिज्जइ हरियं तुय-पत्त-पावाल-कंद-फल बीयं।
अप्पासुगं च सलिलं सचित्तणिव्वित्ति तं ठाणं।।[4]

इस तरह यहाँ आहार विषयक महत्ता द्योतित होती है।

6. ब्रह्मचर्यप्रतिमा

पूर्वोक्त पाँच प्रतिमाओं के आराधन के पश्चात् छठी प्रतिमा में सर्वधर्म रुचि होती है। साधक सम्पूर्ण व्रतों का सम्यक् रूप से पालन करता हुआ ब्रह्मचर्य प्रतिमा को स्वीकार करता है। उपासकदशांगटीका के अनुसार पूर्वोक्त प्रतिमाओं से युक्त मोह को जीत कर रात्रि एवं दिन में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन, स्त्रियों से संलापादि करना

---

1. रत्न०-7/6
2. सच्चित्तं पत्त-फलं छल्ली मूलं च किसलयं बीयं।
जो ण य भक्खदि णाणी सचित्तविरदो हवें सों दु।।
कार्ति, 78
3. दयार्द्रचित्तो जिनवाक्यवेदी न वल्भते किञ्चन् यः सचितम्।
अनन्यसाधारण धर्मपोषी सचित्तमोची स कषायमोची।।
अमित०, 7/71
4. वसु०श्राव०, 295

और शृंगार युक्त वस्त्र भी जो धारण नहीं करता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी कहलाता है। इसका समय कम से कम 1-2 दिन व उत्कृष्ट छः मास है।[1]

दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में कहा गया है कि श्रावक दिन एवं रात्रि में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, परन्तु सचित्त का परित्यागी नहीं होता। यह प्रतिमा कम से कम 1-2 दिन व उत्कृष्ट छह मास तक पालन करने योग्य है।[2] आचार्य हेमचन्द्र ने पूर्व प्रतिमाओं के अनुष्ठान सहित छह मास तक त्रिकरण त्रियोग से निरतिचार ब्रह्मचर्य के पालन करने को ब्रह्मचर्य प्रतिमा बतलाया है।[3]

दिगम्बर परम्परा में ब्रह्मचर्य प्रतिमा को सातवें स्थान पर स्वीकार किया है और इसके स्वरूप को बतलाते हुए स्वामि समन्तभद्र ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार में मल का बीज, मल का आधार, मल को बहाने वाला, दुर्गन्ध से युक्त व बीभत्स आकार वाले स्त्री के अंगों को देखकर स्त्री सेवन के सर्वथा त्याग को ब्रह्मचर्य प्रतिमा कहा है :-

मलबीजं मूलयोनि गलन्मल पूतिगन्धि बीभत्सम्।
पश्यन्नङ्ग मनङांद्विरमति यो ब्रह्मचारी सः।।[4]

किन्तु स्वामी कार्तिकेय अपनी रचना कार्तिकेयानुप्रेक्षा में इससे भिन्नता रखते हैं। उनका मत है कि जो ज्ञानी श्रावक मन, वचन और काय से सभी प्रकार की स्त्रियों की अभिलाषा नहीं करता, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी होता है।[5] अमितगति श्रावकाचार

1. पुव्वोदिय गुणजुत्तो विसेसओ विजिय मोहणिज्जो य।
वज्जइ अबंभमेगंतओ य राइं पि थिर चित्तो।।
सिंगार कहा विरओ इत्थीए समं रहम्मि नो ठाइ।
चयइ य अइप्पसंग तहा विभूतं च उक्कोसं।।
उपा०टीका, पृ० 75
2. से णं असिणाणए, वियडभोइ, मउलिकडे दिया वा राओ वा
बंभयारी सचित्ताहारे से अपरिण्णाय भवइ। सेणं एयारूवेणं
विहारेण विहरमाणे जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा
जाव उक्कोसेण छम्मास विहरेज्जा।।
दशा०सू० छठी दशा
3. योग०, पृ० 421
4. रत्न०, 7/8
5. सव्वेसिं इत्थीणं जो अहिलासं ण कुव्वदे णणीं।
मण-वाय-काएण य बंभवई सो हवे सदओ।।
कार्ति०, 83

में भी आता है कि जो विषय-सेवन से विरक्तचित्त पुरुष स्त्री को गुणरूप रत्नों को चुराने वाली मानता हुआ मन, वचन, काय से उसका सेवन नहीं करता है, वह पवित्र चरित्र का अनुसरण करने वाला और विषयों का अपहारक ब्रह्मचारी होता है।[1] आचार्य वसुनन्दि की दृष्टि में भी जो पूर्वोक्त नौ प्रकार के मैथुन को सर्वथा त्याग करता हुआ स्त्री-कथा आदि से भी निवृत्त हो जाता है, वह ब्रह्मचर्यप्रतिमा से युक्त व्रती साधक है।[2]

इस प्रकार स्त्री सेवन का पूर्णरूप से त्यागी ही ब्रह्मचर्य प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है।

7. सचित्तत्यागप्रतिमा

सातवीं प्रतिमा का आराधक पूर्वोक्त नियमों के साथ-साथ सचित्त आहार का भी सर्वथा त्यागकर देता है, किन्तु वह आरम्भ का त्याग नहीं करता।

उपासकदशांगटीका में कहा गया है कि पूर्वोक्त सभी प्रतिमाओं का पालन करता हुआ समस्त सचित्त आहार को जो त्याग कर देता है, वह सचित्ताहार त्याग प्रतिमाधारी है, जिसका समय सात मास का बतलाया गया है।[3] दशाश्रुतस्कन्ध में दिन-रात ब्रह्मचर्य के पालन के साथ जो पूर्णरूप से सचित्त आहार का परित्याग करता है, वह गृह-आरम्भ का अपरित्यागी सचित आहारत्याग प्रतिमाधारी है।[4] रत्नकरण्डकश्रावकाचार के अनुसार जो दयामूर्ति श्रावक कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा करीर, कन्द, फूल और बीजों को नहीं खाता, वह सचित्तविरत पद का अधिकारी श्रावक है।[5]

1. यो मन्यमानो गुणरत्नचोरी विरक्तचित्तस्त्रिविधेन नारीम्।
पवित्रचारित्रपदानुसारी च ब्रह्मचारी विषयापहारी।। अमित०श्राव०, 7/273
2. पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो।
इत्थिकहाइणिवित्तो सतमगुणनंभयारी सो।। वसु०श्राव०, 297
3. सच्चित्तं आहार वज्जइ असणाइयं निरवसेसं।
सेसवय समाउतो जा मासा सत विहिपुव्वं।।
उपा०टीका, पृ० 75
4. राओवरायं वा नंभयारी सचित्ताहारे से परिण्णाय भवति। आरंभे
से अपरिण्णाय भवति। से णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे
जहण्णेणं एगाहं वा दुआहं वा तिआहं वा जाव उक्कोसेणं सतमासे विहरेज्जा।।
दशा०सू०, छठी दशा
5. रत्न०, 7/6

8. आरम्भत्याग प्रतिमा

इस प्रतिमा का धारक उपरोक्त सभी नियमों का पालन करता हुआ आरम्भ का भी त्याग कर देता है। आरम्भ शब्द जैन संस्कृति का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है–हिंसात्मक क्रिया। श्रमणोपासक संकल्पिकी हिंसा का त्यागी होता है, परन्तु व्यापारिक क्रिया करते समय और गार्हस्थिक कार्यों में उससे षट्काय के जीवों की हिंसा होना स्वाभाविक है।

उपासकदशांगटीका में कहा गया है कि जो सचित्त आहार का त्याग करता है, स्वयं आरम्भी हिंसा नहीं करता, किन्तु आजीविका के लिए दूसरों से कराने का भी त्यागी नहीं होता, वह आरम्भत्यागप्रतिमा का धारक श्रावक है। इस प्रतिमा की काल मर्यादा एक, दो या तीन दिन और उत्कृष्ट आठ मास होती है।[1] दशाश्रुतस्कन्धसूत्र[2] तथा योगशास्त्र[3] में भी इसका यही स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। आचार्य समन्तभद्र के मत में आरम्भ त्याग योगी वह है जो जीवहिंसा के कारण भूत सेवा, कृषि एवं वाणिज्य आदि आरम्भ से निवृत्त होता है।[4] कार्तिकेयानुप्रेक्षा के अनुसार जो श्रावक हिंसा से दु:खित मन वाला कृषि, व्यापारादि आरम्भ कार्य को न स्वयं करता है, न औरों से कराता है और न आरम्भ करने वालों की अनुमोदना ही करता है, वह आरम्भत्याग प्रतिमाधारी श्रावक है।[5] अमितगतिश्रावकाचार में भी आता है कि जो विवेकी पुरुष आरम्भ को षअ्कायिक जीवों का विघातक समझकर कृषि-व्यापारादि आरम्भ करने का त्याग करता है, वह विरागी संयमरूप वृक्ष को सींचने वाला मुनिराजो के द्वारा आरम्भ त्यागी श्रावक स्वीकार किया गया है।[6]

1. वज्जइ सयमारम्भ सावज्जं कारवेइं पेसेहिं।
   वित्तिनिमित्तं पुव्वय गुणजुतो अंग जा मासा।।
   उपा०टीका, पृ० 75
2. दशा०सू०, छठी दशा
3. योग०, पृ० 421
4. सेवाकृषिवाणिज्य प्रमुखादारम्भो व्युपारमति।
   प्राणातिपात हेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्त:।।
   रत्न० 7/9
5. जो आरम्भ ण कुणदि अण्णं कारयदि णेव अणुमण्णे।
   हिंसासंतट्ठमणो चत्तारंभो हवे सो हु।।
   कार्ति० 85
6. विलोक्य षड्जीवविघातमुच्चैरारम्भमत्यस्यति यो विवेकी।
   आरम्भ मुक्त: स मतो मुनीन्द्रैऽवैरागिक: संयमवृक्षसेकी।।
   अमित०श्राव०, 7/74

आचार्य वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार में कहा है कि जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृहसम्बन्धी आरम्भ होता है, उसे जो सदा के लिए त्याग करता है, वह आरम्भ से निवृत्त हुई बुद्धि जिसकी, ऐसा आरम्भत्यागी प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक कहलाता है।[1] सागारधर्मामृत में पण्डित आशाधर लिखते हैं कि प्रारम्भिक सात प्रतिमाओं में पूर्णनिष्ठ जो श्रावक प्राणियों की हिंसा का कारण होने से खेती, नौकरी एवं व्यापार आदि आरम्भों को मन, वचन, काय से न स्वयं करता है और न दूसरों से कराता है, वह आरम्भविरती है।[2]

इस प्रतिमा का धारक श्रावक पूर्वोक्त नियमों का सम्यक् रूप से पालन करता हुआ स्वयं आरम्भ वर्जन प्रतिमा को धारण करता है और पुत्र आदि को परामर्श हेतु आश्वासन देता है। इसमें आजीविका अथवा निर्वाह के लिए दूसरे से आरम्भ कराने का त्याग नहीं होता।

9. प्रेष्यारम्भत्याग प्रतिमा

आठवीं प्रतिमा को अंगीकार करता हुआ साधक आरम्भ का भी परित्याग कर देता है अर्थात् जहाँ आठवीं प्रतिमा में एक करण, तीन योग से आरम्भ का त्याग होता है, वहीं नौवीं प्रतिमा में दो कारण, तीन योग से आरम्भ का त्याग होता है, किन्तु इस प्रतिमा में उद्दिष्ट भक्त का त्याग नहीं होता अर्थात् स्वयं के निमित्त बनाए गए भोजन नौवीं प्रतिमाधारी ग्रहण कर लेता है।

उपासकदशांगसूत्र टीका में कथन है कि नौवीं प्रतिमाधारक श्रावक पूर्वोक्त आठों प्रतिमाओं का पालन करता हुआ। आरम्भ का भी परित्याग करता है, किन्तु अपने निमित्त बनाए भोजन को ग्रहण करने वाला होता है। इस प्रतिमा का काल जघन्य एक-दो-तीन दिन और उत्कृष्ट नौ मास है।[3] दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में भी बतलाया

1. जं किंचि गिहारंभं बहु थोग वा सया विवज्जइ।
   आरम्भणियत्तमई सो अट्ठमु सावओ भणिओ।।
   वसु०श्राव०, 298
2. निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघातांगत्वात्करोति न।
   न कारयति कृष्यादीनाभ विरतास्त्रिधा।।
   सागार०, 7/21
3. पेसेहिं आरम्भं सावज्जं कारवेइ नो गुरुयं।
   पुव्वोइयगुणजुतो नव मासा जाव विहिगाउं।।
   उपा०टीका, पृ० 75

गया है कि इसमें गृहस्थ दूसरों से भी आरम्भ नहीं करवाता, परन्तु स्वनिर्मित आहार के ग्रहण करता है।[1] योगशास्त्र के अनुसार नौ महीने तक दूसरे से भी आरम्भ कराने का त्याग करना प्रेष्यारम्भत्याग प्रतिमा है।[2]

इस प्रतिमा में श्रावक संवर में अधिक रत रहता है। वह अपने अनुचरों पर अनुशासन करना भी बंद भी बंद देता है। उसके परिग्रह की वृत्ति भी न्यून हो जाती है। परिग्रह की वृत्ति न्यून होने से इस प्रतिमा का अपर नाम परिग्रहपरित्यागप्रतिमा भी है।

दिगम्बर परम्परा में इस प्रतिमा का नाम परिग्रहत्यागप्रतिमा है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा है कि जो धन-धन्यादि बाह्य दशों प्रकार की वस्तुओं में ममत्व को छोड़ निर्ममत्व भावना में निरत रहता है, मायाचार आदि को छोड़कर स्वस्थ (आत्मस्थ) रहता है और परम सन्तोष को धारण करता है, वह चित्त में संसार रूप से बसे परिग्रह से विरत श्रावक जानना चाहिए।[3] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आचार्य कहते हैं। कि ज्ञानी पुरुष बाहरी और भीतरी परिग्रह को पाप मानता हुआ प्रसन्नतापूर्वक उसे छोड़ देता है, वह ही निर्ग्रन्थ परिग्रह त्यागी है।[4] अमितगतिश्रावकाचार में आता है कि जो परिग्रह को छोड़ता है, वह अपरिग्रहीश्रावक कहा गया है।[5] आचार्य वसुनन्दि भी श्रावकाचार में कहते हैं कि जो वस्त्रमात्र परिग्रह को रखकर शेष सब परिग्रह को छोड़ देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रह में भी मूर्च्छा आसक्ति नहीं करता है, उसे परिग्रहत्याग प्रतिमाधारी नवां श्रावक जानना चाहिए।

मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं।
तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओनवमो।।[6]

1. पेसारंभे से परिण्णाए भवइ। उद्दिट्ठ भत्ते से अपरिण्णाए भवइ।
   से णं रूयारूवेणं विहारेणं विहरमाणे। जहण्णेणं एगाहं वा।
   दुआहं वा तिआहं वा जाव उक्कोसेणं नव मासे विहरेज्जा।।
   दशा०सू०, छठ्ठी दशा
2. योग०, पृ० 421
3. बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः।
   स्वस्थः सन्तोषपरः परिचित परिग्रहाद्विस्तः।। रत्न०, 7/10
4. जो परिवज्जइ गंथं अब्भंतर बाहिरं च साणंदो।
   पावं ति मण्णमाणो णिग्गथोत्थो हवे णाणी।। कार्ति०, 86
5. यो रक्षणोपार्जननश्वरत्वैर्ददाति दुःखानि दुरुत्तराणि।
   विमुच्यते येन परिग्रहोऽसौ गीतोऽपसंगैरपरिग्रहोऽसौ।। अमित०श्राव०, 7/75
6. वसु०श्राव०, 299

गुणभूषण ने भी प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक के लिए वस्त्र के अतिरिक्त सभी प्रकार के परिग्रह परित्याग का वर्णन किया है।[1]

10. उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमा

प्रस्तुत प्रतिमा में श्रावक अपने निमित्त से बने आहार का भी परित्याग कर देता है अर्थात् ऐसी कोई वस्तु स्वीकार नहीं करता, जो उसके लिए बनाई या तैयार की गई हो। उपासकदशांगटीका के अनुसार-गृहस्थ अपने निमित्त बने भोजन का भी त्याग कर देता है। सांसारिक बातचीत का हां या नहीं में उत्तर देता है। सिर उस्तरे से मुंडवाता है, केवल शिखा (चोटी) मात्र रखता है। इसकी काल मर्यादा कम से कम 1-2-3 दिन व उत्कृष्ट दस मास की होती है।[2] दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में कहा गया है कि जो निरन्तर ध्यान व स्वाध्याय में तल्लीन रहता है, सिर के बालों का शस्त्र से मुण्डन कराता है, चोटी जो गृहस्थाश्रम का चिह्न है, उसे मात्र रखता है, उसे उद्दिष्टभक्तत्याग प्रतिमाधारी श्रावक जानना चाहिए।[3]

प्रस्तुत प्रतिमाधारी श्रावक की यह विशेषता है कि वह जिसके सम्बन्ध में जानना है, तब पूछने पर कहता है कि 'मैं जानता हूँ' और यदि नहीं जानता है तो स्पष्ट रूप से कहता है कि 'मैं उसे नहीं जानता।' वह ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करता, जिससे किसी को हानि हो। वह भाषा पर पूर्ण विवेक रखता है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार इस प्रतिमा का नाम अनुमतित्याग प्रतिमा है। जिसका अर्थ है-जो भी आरम्भ आदि के कार्य हैं, उसकी वह अनुमति नहीं देता। घर में रहकर भी इष्ट-अनिष्ट कार्यों के प्रति न राग रखता है, न द्वेष ही रखता है। भोजन का समय हो जाने पर भोजन के लिए आमन्त्रित करने पर वह भोजन कर लेता है, भले ही वह भोजन उसके निमित्त का क्यों न बना हो। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में भी आता है कि जिसके निश्चय से गृह के, कृषि आदि आरम्भ में, परिग्रह में और इस

1. गुण०श्राव०, 73
2. उद्दिट्ठकडंभतपि वज्जए किमुय से समारंभ।
   सो होई उ खुरमुण्डो, सिंहलि वा धारए कोई।।
   दत्वं पुट्ठो जाणं जाणे इह वयइ नो य नि वेत्ति।
   पुव्वोदिय गुणजुतो दसमासा कालमाणेणं।।
   उपा०टीका, पृ० 75
3. .....सेणं खुरमुंडए वा सिहा-धाराए वा तस्सणं
   अभिट्ठस्स समाभट्ठस्स वा कप्पंति दुवे भासाओ भासित्तए.....
   दशा०सू०, छठी दशा

लोक सम्बन्धी लौकिक कार्यों में अनुमोदन नहीं है, वह समभाव का धारक अनुमतिविरतप्रतिमा से युक्त श्रावक है।[1] कार्तिकेयानुप्रेक्षा में आता है कि जो पुरुष पापमूलक गृहस्थी के कार्यों की अनुमोदना नहीं करता है तथा पुत्र-पौत्रादि का भविष्य उनके भवितव्य के अधीन है, ऐसी भावना करता हुआ गृहकार्यों से उदासीन रहता है, वह अनुमतिविरत प्रतिमाधारी है।[2] अमितगतिश्रावकाचार के अनुसार–जो सर्व आरम्भ परिग्रह से रहित और धर्म में आसक्त चित्त पुरुष पापकार्यों में हिंसा मानकर अनुमति नहीं देता है, वह अनुमति त्यागियों में मुख्य कहा जाता है।[3] वसुनन्दिश्रावकाचार की भी ऐसी ही मान्यता है। इनके मत में स्वजनों से और परजनों से पूछा गया जो श्रावक अपने गृह सम्बन्धी कार्य में अनुमोदना नहीं करता, उसे अनुमतित्याग प्रतिमाधारी श्रावक जानना चाहिए।[4] पुरुषार्थ अनुशासन नामक ग्रंथ में मिलता है कि दसवीं प्रतिमा का धारक श्रावक सभी पाप कृत्यों या गृहारम्भ की अनुमति नहीं देता, किन्तु वह पुण्य कार्यों की अनुमति देता है।[5]

11. श्रमणभूत प्रतिमा

श्रमणभूत का तात्पर्य है–श्रमण के समान। प्रस्तुत प्रतिमा में गृहस्थ श्रावक होते हुए भी श्रमण के समान क्रियाएँ करता है। श्रमणवत आचरण के कारण के नाम से बतलाया जाता है। उपासकदशांगटीका में कहा गया है कि श्रमणभूत प्रतिमा में सिर के बालों का यथाशक्ति लुंचन किया जाता है। साधु जैसा वेश धारण करता है, भंडोपकरण भी साधु जैसे ही रखता है व किंचित् राग होने से गोचरी अपने घरों से

1. अनुमतिरारम्भे वा परिग्रहे वैहिकेषु कर्मसुवा।
   नास्ति खलु यस्य समधीरनुमतिविरतः स मन्तव्यः।।
   कार्ति०, 88
2. जो अणुमणणं ण कुणदि गिहत्थकज्जेसु पावमूलेसु।
   भवियव्वं भावंतो अणुमणविरओ हवे सो दु।।
   कार्ति०, 88
3. आरम्भसन्दर्भविहीनचेताः कार्येषु मारीरिव हिंस्ररूपाम्।
   यो धर्मसक्तोऽनुमति न धत्ते निगद्यते सोऽनुमन्तृमुख्यः।।
   अमित०श्राव०, 7/76
4. पुट्ठो वाऽपुट्ठो वा णियगेहि परेहिं च सगिहकज्जामि।
   अणुमणणं जो ण कुणइ वियाण सो सावओ दसमो।।
   वसु०श्राव०, 300
5. पुरू०, भावसंग्रह-श्लोक 60-70

ही लेता है। समय सीमा जघन्य 1-2-3 दिन और उत्कृष्ट 11 मास है।[1] दशाश्रुतस्कन्धसूत्र में भी ग्यारहवीं प्रतिमा को अंगीकृत श्रवक का यही स्वरूप प्रतिपादित किया गया है।[2]

श्रमणभूत प्रतिमा का आराधक श्रावक जब किसी गृहस्थ के घर पर भिक्षा के लिए जाता है, तब वह कहता है–'प्रतिमा प्रतिपन्न श्रमणोपासक को भिक्षा दो।' व श्रावक की तरह मौन होकर भिक्षा के लिए नहीं जाता। बोलने की जो बात है, वह इसलिए है कि श्रमणोपासक व श्रावक का वेश एक सदृश होने से कहीं श्रमणोपासक को श्रमण न समझा जाए। इसलिए वह स्पष्टीकरण करता है।

दिगम्बर परम्परा में ग्यारहवीं प्रतिमा का नाम उद्दिष्टत्याग है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार के अनुसार–जो घर में मुनियों के निवास वाले वन में जाकर और गुरु के समीप व्रतों को धारण करके भिक्षावृत्ति से आहार ग्रहण करते हुए तपस्या करता है और जो वस्त्र खण्ड को धारण करता है, वह उद्दिष्टत्यागी श्रावक है।[3] 'चेलखण्डधर' पद से लंगोटी रखने वाले और एक छोटा वस्त्र (चादर) रखने वाले ऐलक और क्षुल्लक का ग्रहण हो जाता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षाकार के मत में–जो श्रावक भिक्षावृत्ति से याचना रहित, नवकोटि से विशुद्ध योग्य आहार को खाता है, वह उद्दिष्टाहारविरत प्रतिमा का धारक है।[4] अमितगतिश्रावकाचार में आता है कि–जो भले और बुरे आहार में समान चित्त रखने वाला पुरुष हैं वह नवकोटि से विशुद्ध भोजन को ग्रहण करता है, वह संसृति रूप राक्षसी से भयभीत उद्दिष्टत्यागी श्रावक

1. खुरमुण्डो लोएण व रयहरणं ओग्गहं च घेत्तूणं।
   समणण्भूओ विहरइ धम्मं काएण फासेन्तो।।
   एवं उक्कोसेणं एक्कारसमासं जाव विहरेइ।
   एक्काहाइपरेणं एवं सव्वत्थ पाएणं।।
   उपा०टीका, पृ० 75-76
2. से णं खुरमुंडए वा लुंचसिरए वा गहियायार-भंडग नेवत्थे।
   जारिसे समणाणं निग्गंथाणं धम्मे पण्णत्ते, केवलं से नायए
   पेज्ज बंधणे अवोच्छिन्ने भवइ।।
   दशा०सू०, छठी दशा
3. गृहतो मुनिवनमित्वा गुरुपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य।
   भैक्ष्याशनस्तपस्यन्नुत्कृष्टश्चेलखण्डधरः।।
   रत्न०, 147
4. जो णवकोडिविसुद्धं भिक्खायरणेण भुजंदे भोज्जं।
   जायणरहियं जोग्गं उद्दिट्ठाहार विरदो सो।। कार्ति०, 90

कहा गया है।[1] आचार्य वसुनन्दि के अनुसार–ग्यारहवें प्रतिमास्थान में गया मनुष्य उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। उसके दो भेद हैं–प्रथम एक वस्त्र का रखने वाला और दूसरा कोपीन (लंगोटी) मात्र परिग्रह वाला।[2] इन्हें क्रमशः वर्णी एवं ऐलक पद से सम्बोधित किया जाता है।

इस प्रकार उत्कृष्ट श्रावक प्रतिमाओं का पालन कर अपने को अनगारत्व अर्थात् मुनिपने की ओर ले जाता है। उपासकदशांगसूत्र के अनुसार श्रमणोपासक आनन्द एवं अन्य नौ श्रावकों ने उपरोक्त ग्यारह प्रतिमाओं का विधिविधान के अनुसार भली प्रकार से आराधन किया था।

श्रावक के मनोरथ

श्रावक श्रावकत्व को अंगीकृत करके मनोरथ (इच्छा) रखता है कि वो दिन धन्य होगा, जब मैं अल्प या बहुत परिग्रह का परित्याग करूंगा। वो दिन धन्य होगा, जब मैं मुण्डित होकर अगार से अनगारिता में प्रव्रजित होऊंगा। वो दिन धन्य होगा, जब मैं अपश्चिम मारणान्तिक संलेखना की आराधना से युक्त होकर भक्त पान का परित्याग कर प्रायोपगमन संथारा स्वीकार मृत्तु की आकांक्षा न करता हुआ विचरण करूंगा।[3]

वह दिन धन्य होगा जब मैं अपने आप को शनैः शनैः त्याग की ओर अग्रसर करूंगा और क्रमशः ग्यारहः प्रतिमाओं की ओर बढ़ूँगा। पहले, प्रथम प्रतिमा धारण करूंगा फिर क्रमशः अपने आत्मचिन्तन के द्वारा अपने आपको सांसारिक परिग्रह और क्रोधमान मायालोभ चार कषायों से दूर रखूंगा।

मैं आत्मध्यान करके अष्टकर्म निवारक पाँच इन्द्रियों को वश में करूँ और जो मनुष्य का परम लक्ष्य मोक्ष है उसको प्राप्त करूँ ऐसी मेरा मनोरथ है। ऐसी भावना सर्वदा बनी रहे जिससे श्रावक होते हुये भी मैं मोक्ष मार्ग पर चलकर आत्म उद्धार करूं।

(ग) षडावश्यक

आवश्यक जैन साधना का मूल प्राण है। यह जीवन शुद्धि परिमार्जन का महामंत्र है। वैदिक धर्म में जैसे संध्या है, बौद्ध धर्म में उपोसथ है, ईसाई धर्म में प्रार्थना है, इस्लाम धर्म में नमाज है, वैसे ही जैन धर्म में दोष शुद्धि एवं गुण वृद्धि हेतु (षड्) आवश्यक भी आचरणीय है।

1. आवश्यक पद की व्याख्या

आवश्यक अर्थात् प्रतिक्रमण आदि अवश्य करणीय कर्त्तव्य। सामान्यतः 'अवश' का अर्थ है–अकाम स्वाधीन, स्वतंत्र,[4] राग-द्वेष और इन्द्रियों की अधीनता से रहित होना।

1. यो बन्धुराबन्धुरतुल्यचित्तो गृहयाति भोज्यं नवकोटिशुद्धम्।
   उद्दिष्टवर्जी गुणिभिः स गीतो विभीलुकः संसृतियातुधान्याः। -अमित०श्राव०, 7/77
2. वसु०श्राव०, 301
3. स्थानाङ्ग सूत्र – 3/4/497
4. पा०स०म०, पृ० 83

कोषग्रन्थ में कहा गया है कि जो अनिवार्य है, वह आवश्यक है।[1] मूलाचारकार ने कहा है कि जो राग-द्वेष के वश नहीं होता, वह अवश है और उसका आचरण व कर्त्तव्य आवश्यक कहलाता है।[2] कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार–जो अन्य के वश नहीं है, उस अवश का कार्य आवश्यक है, जो कर्मों का विनाशक, योग एवं निर्वाण का मार्ग है।[3]

2. आवश्यक के पर्यायवाची

अनुयोगद्वारसूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम दिए हैं–आवश्यक, अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह, विशोध, अध्ययनषट्क वर्ग, न्याय, आराधना और मार्ग। इन नामों में किंचित् अर्थभेद होने पर भी सभी समान अर्थ को व्यक्त करते हैं।[4]

3. आवश्यक के भेद

जैनदर्शन में श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका को आचरणीय निम्न छह आावश्यक हैं–सामायिक, चतुर्विंशति स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।[5]

सामायिक

षडावश्यक में सामायिक का प्रथम स्थान है। सामायिक जैन आचार विचार का मूल है, क्योंकि सामायिक की व्रतों, प्रतिमाओं के अन्तर्गत भी गणना की गई है। इस कारण जैनधर्म-दर्शन में इसकी सर्वाधिक महत्ता स्वतः सिद्ध है।

सामायिक पद का निरूक्तिपरक अर्थ

'सम' उपसर्गपूर्वक गति अर्थ वाली 'इण' धातु से 'समय' शब्द निष्पन्न हुआ है। सम् एकीभाव, अय-गमन अर्थात् एकीभाव के द्वारा बाह्य परिणति से पुनः मुड़कर आत्मा की ओर गमन करना सामायिक है।[6] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में लिखा है–राग-द्वोष के कारणों में मध्यस्थ रहना सम है। मध्यस्थभावयुक्त साधक की मोक्ष के अभिमुख जो प्रवृत्ति है, वही सामायिक है।[7]

1. संस्कृत हिन्दी कोष, पृ० 162
2. ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावसयं त्ति बोधव्वा।। मूला० 5/5
3. जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दुकम्मं भणंति आवासं।
   कम्मविणासणंजोगो णिप्वुदिमग्गो त्ति णिज्जुत्तो।। नियम० 141
4. आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुवनिग्गहो विसेही य।
   अज्झयण छक्कवग्गो, नाओ आराहण मग्गो।। अनु०सू०, 28
5. समदा थओ य वंदण पडिक्कमणं तहेव णादत्वं।
   पच्चक्खाणं विसग्गो करणीयवयसा छप्पि।।
   मूला० 1/22 तथा मिलाइए समण० 424
6. 'सम' एकीभावे वर्तते। तद्यथा, संगतं घृतं संगतं तैलमित्युच्यते
   एकीभूतमिति गम्यते। एकत्वेन अयनं गमनं समयः समय एव सामायिकं समयः
   प्रयोजनमस्येति वा विग्रह्य सामायिक।।
   सर्वार्थ०, 7/12, पृ० 279
7. रागद्दोसविरहिओ समोत्ति अयणं अयो त्ति गमणं ति।
   समगमणं ति समाओ स एव सामाइयं णाम।। विशेषा०, 3305

मूलाचार में जन्म-मरण, लाभ हानि, संयोग-वियोग, मित्र-शत्रु, सुख-दुःख आदि में राग-द्वेष न करके समभाव रखना समता कहा गया है। यही सामायिक भी कहलाता है।[1] समणसुत्तं में भी कहा गया है कि तिनके और सोने में, शत्रु और मित्र में समभाव रखना ही सामायिक है, चित्त का संसर्ग रहित होना इसी के अन्तर्गत आता है।[2] भगवद्गीता में समता को ही योग कहा गया है-समत्त्वं योग उच्यते।[3]

चतुर्विंशति स्तव

स्तव का अर्थ है-प्रशंसा करना, स्तुति करना[4] और चतुर्विंशति पद यहाँ संख्यात्मक है।

आदितीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर चरम तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों के नाम निरुक्ति के अनुसार अर्थ करके उनके असाधारण गुणों का कीर्तन अर्थात् गुण ग्रहणपूर्वक नाम स्मरण करना, उनका पूजन करना तथा मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक उन्हें नमन करना ही चतुर्विंशति-स्तव आवश्यक कहलाता है।[5]

स्तव विधि

जैनदर्शन में स्तव अर्थात् स्तुति करने की विशिष्ट विधि पर बल दिया गया है। यहाँ आचर्य बट्टकेर की अपनी दृष्टि है। वे कहते हैं कि मानव को शरीर, भूमि और चित्त की शुद्धिपूर्वक दोनों पैरों में चार अंगुल के अन्तर से समपाद खड़े होकर अंजलि जोड़कर सौम्यभाव से स्तवन करना चाहिए।[6] तथा उसे यह चिन्तन करना

1. जीविदमरणे लाभालाभे संयोजविप्पओगे य।
   बंधुरिसुहदुक्खादिसु समदा सामाइयं णाम।। मूला०, 1/23
2. समभावो सामाइयं, तणकंचण सत्तुमित्तविसओ त्ति।
   निरभिस्संग चित्तं, उचियवित्तिप्पहाणं च।। समण०, 425
3. श्रीमद्भाग० 2/48
4. संस्कृत-हिन्दी कोष, पृ० 1135
5. सहादिजिणवराणं णामणिरूतिं गुणाणुकित्तिं च।
   काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धिपणमो थवो णेओ।
   मूला०, 1/24
   तथा मिलाइए-आव०सू०, 2, पृ० 19
   उत्तरा०, 29/10 तथा समण० 429
6. मूला०, 7/76

चाहिए कि 'अरिहन्त परमेष्ठी जगत् को प्रकाशित करने वाले, उत्तम क्षमादि धर्मतीर्थ के कर्त्ता होने से तीर्थंकर, जिनवर, पूजनीय एवं महनीय केवली-इन विशेषणों से विशिष्ट उत्तमबोधि को देने वाले हैं।[1]

इस प्रकार चतुर्विंशति-स्तव श्रमण-श्रमणियों एवं श्रावक-श्राविकाओं दोनों का कल्याण करने वाला आवश्यक विशेष है।

वन्दना

साधना क्षेत्र में तीर्थंकर देव के पश्चात् दूसरा स्थान गुरु का है। जैनदर्शन में तीर्थंकर देव के साथ-साथ गुरु को भी देव सदृश महत्त्व प्रदान किया गया है और इस कलिकाल में गुरुदेव ही अरिहन्त परमेष्ठी के प्रतिनिधि भी हैं, जो हमें मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं, दिखलाते हैं। अतः उनका स्तवन और अभिनन्दन करना, किया जाना स्वाभाविक है।

वन्दना मन, वचन और काय की वह प्रशस्त वृत्ति है, जिससे साधक तीर्थंकर आदि के प्रति, शिक्षा-दीक्षा एवं तप आदि में ज्येष्ठ आचार्यों एवं गुरुओं के प्रति श्रद्धा एवं बहुमान प्रकट करता है। मूलाचार में भी कहा गया है कि अरिहंत, सिद्ध की प्रतिमा, तप, श्रुत एवं गुणों में ज्येष्ठ और दीक्षा गुरु-इन सबका भक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग आदि से विनय करना वन्दना आवश्यक है।[2] वन्दना से जीवों के नीच गोत्र का का क्षय और उच्चगोत्र का बंध होता है, वन्दनशील के सौभाग्य का उदय हो जाता है, उसकी आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं करता तथा उसमें दाक्षिण्य अर्थात् बौद्धिक चातुर्य उत्पन्न हो जाता है।[3] चारित्रादि अनुष्ठान, ध्यान एवं अध्ययन में तत्पर क्षमादि गुण तथा महाव्रतधारी, असंयम से ग्लानि करने वाले तथा धैर्यमान् श्रमण वन्दना के योग्य होते हैं।[4]

वन्दना की विधि

आवश्यक सूत्रानुसार वन्दना की भी विधि विशेष है। इसमें शिष्य गुरुदेव को वंदन करने के लिए सम्बोधन कर कहता है कि हे क्षमाश्रमण गुरुवर्य! मैं यथा शक्ति

1. वही, 7/42
2. अरहंत सिद्धपडिमातव सुदगुणगुरु गुरुणरादीणं।
   किदियम्मेणिदरेण य तियरणसंकोचणं पणमो।।
   मूला०, 1/25
3. वन्दणएवं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबन्धइ।
   सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वेत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ।।
   उत्तरा०, 29/11
4. मूला०, 7/19

पाप व्यापारों को छोड़कर आपकी वंदना करना चाहता हूँ। अत: आप मुझे आपकी शरीराधिष्ठित भूमि में प्रवेश करने की आज्ञा प्रदान करें। इसके बाद गुरु शिष्य को वंदना करता है और अपने पापों की आलोचना करता है।[1]

मूलाचारकार आचार्य बट्टकेर के अनुसार जिन आचार्यादि ज्येष्ठ श्रमणों को वंदना करनी है, तो एक तो उनमें तथा वन्दनकर्ता के मध्य एक हाथ का अन्तराल होना चाहिए, अपने शरीरादि के स्पर्श से देव या गुरु को बाधा न करते हुए फिर अपने कोटि प्रदेशों का पिच्छिका से प्रतिलेखन कर वंदना की इस प्रकार की याचना की जाती है कि 'मैं वन्दन करता हूँ।' इस तरह गुरु स्वीकृति लेकर इच्छाकारपूर्वक प्रणाम या नमस्कार किया जाना वन्दना कहलाता है।[2]

अवन्द्य को वन्दन करने से वंदना करने वाले की एक तो कर्म निर्जरा नहीं होती, दूसरे उसकी कीर्ति नहीं बढ़ती बल्कि असंयम आदि दोषों के समर्थन द्वारा उसका कर्मबन्ध ही होता है। जैसे कि मूलाचार में कहा भी गया है कि :-

पासत्थाइं वंदमाणस्य नेव कित्ति न निज्जरा होइ।
कायकिलेसं एमेव कुणई तह कम्मबंधं च।।[3]

वंदना का समय

देव एवं गुरु की वंदना करने के समय पर भी जैनदर्शन में चिन्तन किया गया है। आचार्य बट्टकेर ने मूलाचार में बतलाया है कि आलोचना, प्रश्न पृच्छा और स्वाध्याय आदि के समय, क्रोध के कारण अपराध के हो जाने पर आचार्य एवं उपाध्याय आदि की वंदना करना हितकर होता है।[4] पंडित प्रवर आशाधर ने त्रिसन्ध्य वन्दना का समय छह-छह घड़ी अर्थात् सूर्योदय के तीन घड़ी पश्चात् तक पूर्वाह्न वन्दना करना विहित माना है।[5] आचार्य आदि एकान्तभूमि में पद्मासन आदि से स्वस्थचित्त बैठे हों, तब उनकी विज्ञप्ति (अनुमति) लेकर वन्दना करनी चाहिए।[6]

1. आव०सू०, 3, पृ० 22
2. हत्थंतरेण बाधे संफासमप्पज्जणं पउज्जंतो।
   जाएंते वेदणंय इच्छाकारं कुणदि भिक्खू।।
   मूला०, 611
3. आव०नि०, 1108
4. मूला०, 7/78
5. अनगार धर्मामृत-8/79
6. मूला०, 7/101

प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण का अर्थ है-पुन: लौटना। जब सत्त्व अपनी मर्यादाओं का अतिक्रमण कर अपनी स्वभावदशा से निकलकर विभावदशा में चला जाता है और फिर उसका स्वभावरूप सीमा में जो प्रत्यागमन करता है, वह क्रियाविशेष ही प्रतिक्रमण कहलाती है।

सामान्यत: श्रमण या श्रावक जिस क्रिया के द्वारा अपने किए गए दोषों, अपराधों अथवा पापों का प्रक्षालन करके शुद्ध होता है, वही प्रतिक्रमण है। इस तरह प्रमाद पूर्वक[1] किए गए अतीतकालीन दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है।[2] मूलाचार में आचार्य बट्टकेर कहते हैं कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावपूर्वक किए गए अपराधों का मन, वचन, काय से निन्दा अर्थात् आत्मालोचन करना अथवा अपनी भूलों के प्रति अनादर का भाव प्रकट करना और गर्हा अर्थात् गुरु आदि के समक्ष अपनी भूलों आदि को प्रकट करना आदि के द्वारा आत्मशोधन रूप प्रतिक्रमण है।[3] यहाँ द्रव्य से अभिप्राय आहार आदि से है, क्षेत्र से शय्यासन, पूर्वाह्न, अपराह्न आदि काल, मन की प्रवृत्ति भाव हैं। आचार्य अमितगति के अनुसार-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त से उत्पन्न हुए दोषों के पुंज की शुद्धि करना, निन्दा और गर्हा रूप क्रिया के साथ अपनी आलोचना करना प्रतिक्रमण आवश्यक बतलाया गया है।[4] इसे आत्मनिरीक्षण पद से भी सम्बोधित किया जा सकता है।

(क) प्रतिक्रमण के पर्यायवाची शब्द

आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के आठ पर्यायवाची शब्द मिलते हैं,[5] जो प्रतिक्रमण की विशिष्टता की अभिव्यक्ति करते हैं। वे इस प्रकार हैं :-

1. गो०जी० 367
2. अतीतकालदोषनिर्हरणं प्रतिक्रमणं।
   मूला०, 1/27
3. मूला०, 1/26
4. द्रव्य क्षेत्रादि सम्पन्न दोष जाल विशोधनम्।
   निन्दागर्हाक्रियालीढ़ं प्रतिक्रमणमुच्यते।।
   अमित०श्राव०, 8/34
5. पडिकमणं पडियरणा, परिहरणा वारणा नियत्ती य।
   निन्दा गरिहा सोही, पडिकमणं अट्ठहा होइ।।
   आव०नि०, 47

प्रतिक्रमण

सावद्य योग से विरत होकर आत्मशुद्धि में लौट आना प्रतिक्रमण है।

प्रतिचरणा

अहिंसा एवं सत्य आदि संयम में सम्यक् रूप से विचरना प्रतिचरणा है।

परिहरण

सभी प्रकार के अशुभ योगों का त्याग परिहरण कहलाता है।

वारणा

विषय भोगों से स्वयं को रोकना वारणा है।

निवृत्ति

अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना निवृत्ति है।

निन्दा

पूर्वकृत अशुभ आचरण के लिए पश्चाताप करना निन्दा कहलाता है।

गर्हा

आचार्य, गुरु आदि के समक्ष अपने अपराधों की निन्दा करना गर्हा है।

शुद्धि

कृत दोषों की आलोचना, निन्दा, गर्हा और तपश्चरण के द्वारा आत्मशुद्धि करना शुद्धि विशेष है।

इस प्रकार निन्दा और गर्हा से युक्त साधु का मन, वचन, काय के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के व्रताचरण विषयक दोषों एवं अपराधों की आचार्यों के समक्ष आलोचनापूर्वक शुद्धि का नाम ही प्रतिक्रमण है। जैसे समणसुत्त में भी कथन है–

> दव्वे खेत्ते काले, भावे य कयावराह सोहणयं।
> णिदणगरहणजुत्तो, मणवयकायेण पडिक्कमणं।।[1]

1. समण०, 430

(ख) प्रतिक्रमण के पांच भेद

समयबद्ध प्रतिक्रमण किए जाने से कतिपय विद्वानों ने काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पांच भेदों की गणना की है। जैसे–

दैवसिक

दिन में किए जाने वाले दोषों की निवृत्ति के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण दैवसिक प्रतिक्रमण कहलाता है।

रात्रिक

दिन में जो दोष लगे हैं, उनकी रात्रि में निवृत्ति करना रात्रिक प्रतिक्रमण है।

पाक्षिक

पन्द्रह दिन के अन्त में अमावस्या व पूर्णिमा के दिन सम्पूर्ण पक्ष में आचारित पापों का विचार कर प्रतिक्रमण करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है।

चातुर्मासिक

चार मास के पश्चात् कार्तिकी पूर्णिमा, फाल्गुनी पूर्णिमा और आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन चार महीने में लगे दोषों की आलोचना चातुर्मासिक प्रतिक्रमण है।

सांवत्सरिक

आषाढ़ी पूर्णिमा के 49 या 50वें दिन वर्ष भर में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करना सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण के छह भेद

स्थानांगसूत्र[1] के अनुसार प्रतिक्रमण छह प्रकार का बतलाया गया है। जैसे–

उच्चार प्रतिक्रमण

मल विसर्जन के पश्चात् वापिस आने पर ईर्यापथिक सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना उच्चार प्रतिक्रमण है।

1. छव्विहे पडिक्कमणे पण्णत्ते, तंजहा-उच्चार पडिक्कमणे।
पासवण पडिक्कमणे, इत्तरिए, आवकहिए, पॉंकिचिमिच्छा सोमर्णतिए।।
स्था०सू०, 6/125

प्रस्त्रवण प्रतिक्रमण

मूत्र विसर्जन के पश्चात् वापिस आने पर ईर्यापथिकी सूत्र के द्वारा प्रतिक्रमण करना प्रस्त्रवण प्रतिक्रमण कहलाता है।

इत्वरिक प्रतिक्रमण

दैवसिक रात्रिक आदि प्रतिक्रमण करना इत्वरिक प्रतिक्रमण है।

यावत्कथित प्रतिक्रमण

मारणान्तिकी सल्लेखना के समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण यावत्कथित प्रतिक्रमण कहलाता है।

यत्किञ्चित् मिथ्यादुष्कृत प्रतिक्रमण

साधारण दोष लगने पर उसकी शुद्धि के लिए 'मिच्छा मि दुक्कडं' कहकर पश्चाताप प्रकट करना यत्किञ्चित् मिथ्यादुष्कृत प्रतिक्रमण है।

स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण

दु:स्वप्न आदि के देखने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण स्वप्नान्तिक प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण की विधि

प्रतिक्रमण की भी अपनी विधि है, जो निम्न रूप से समझी जा सकती है-

सर्वप्रथम विनयकर्म करके शरीर, आसन आदि का पिच्छिका से प्रमार्जन और नेत्र से देखभाल कर शुद्धि करें।

इसके बाद अंजुलि जोड़कर ऋद्धि और गौरव तथा जाति आदि सभी तरह के मान को छोड़कर व्रतों में हुए अतिचारों को गुरु के समक्ष निवेदन करें।[1]

धर्मकथा आदि में विघ्न का कोई कारण उपस्थित होने पर यदि अपने स्थिर योगों को भूल जाए, तब सर्वप्रथम आलोचना करके संवेग और वैराग्य में तत्पर रहें।

छोटे अपराध के संयम यदि गुरु समीप न हो, तब ऐसी अवस्था में-मैं फिर कभी ऐसा नहीं करुंगा, मेरा पाप मिथ्या हो, इस प्रकार प्रतिक्रमण कर लेना चाहिए।[2] ऐसा करने से मिथ्यात्व की निवृत्ति हो जाती है।

1. मूलाचार०, 7/121
2. मूलाचार०, 7/120

असंयम, क्रोधादि कषायों एवं अशुभ योगों मे चित्त की प्रवृत्ति न हो, इसके लिए मनुष्य को प्रतिक्रमण करना आवश्यक है।[1]

प्रतिक्रमण विधि में इसके अलावा चार कृत्तिकर्म करने का विधान भी है, वे हैं-1. आलोचनाभक्ति करते समय कायोत्सर्ग, 2. प्रतिक्रमणभक्ति करते समय कायोत्सर्ग, 3. वीरभक्ति में कायोत्सर्ग और 4. चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति में कायोत्सर्ग।[2]

यह कायोत्सर्ग क्या है? उसके स्वरूप का यहाँ प्रकाशन करना समुचित है।

कायोत्सर्ग

काय अर्थात् शरीर का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना कायोत्सर्ग कहलाता है। जैन साधना में इसका अपना महत्त्व है। कायोत्सर्ग आवश्यकसूत्र का पंचम आवश्यक है तथा पाप की दृष्टि से ग्यारहवां तप भी स्वीकार किया गया है।[3]

मूलाचार में कायोत्सर्ग के लिए विसर्ग[4] और व्युत्सर्ग शब्द का[5] प्रयोग मिलता है। काय-उत्सर्ग-इन दो शब्दों के योग से कायोत्सर्ग शब्द बना है। जिसका अर्थ है-काय का त्याग अर्थात् परिमित काल के लिए शरीर के ममत्व का छोड़ देना।[6] आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार-काय आदि परद्रव्यों के प्रति स्थिर भाव को छोड़कर निर्विकल्परूप से आत्मध्यान करना कायोत्सर्ग है।[7] कायोत्सर्ग क्यों किया जाता है? इस प्रश्न पर आवश्यकसूत्र में चिन्तन करते हुए लिखा है कि संयमी जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए आत्मा को माया, मिथ्यात्व और निदानशल्य से मुक्त करने के लिए एवं पाप कर्मों के निर्घात अर्थात् विनाश करने के लिए कायोत्सर्ग किया जाता है।[8]

इस प्रकार दिन-रात, पक्ष-मास-चातुर्मास आदि में किए जानो वाले प्रतिक्रमण

1. मूला०, 7/120
2. वही, 7/103
3. वही, 1/22
4. वही, 7/181
5. बौद्धसाधना में भी व्युत्सर्ग की महत्ता प्रदान की गई है। इसके लिए देखिए आचार्य बुद्धघोष का वि०म० 22-23
6. त०वा०, 6/24/11, पृ० 266
7. नियम०, 121
8. तस्य उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्त करणेणं, विसोही करणेणं।
   विसल्ली करणेणं, पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउसंग्गं।।
   आ०सू०, पृ० 15